इन्सानों पर परीक्षण से जुड़े ऐतिहासिक सबक

पी. बालाराम

किसी नए उपचार व टीके के विकास की खातिर होने वाली मेडिकल रिसर्च की एक लंबी जटिल प्रक्रिया होती है, जिसमें सफलता की संभावनाएं भी अपेक्षाकृत कम होती हैं। इसकी एक नियामक प्रक्रिया है, जिसमें यह देखा जाता है कि जो औषधि या टीका बनाया जा रहा है, वह इन्सान के लिए कितना सुरक्षित है। इसके लिए इसका विभिन्न चरणों में क्लीनिकल ट्रायल किया जाता है। इन ट्रायल्स के लिए वॉलंटियर्स की ज़रूरत होती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इसके लिए वॉलंटियर्स की *जानकारी आधारित स्वीकृति* ज़रूरी होती है; यानी क्लीनिकल ट्रायल में शामिल तमाम वॉलंटियर्स को इस बात की पूरी जानकारी होनी चाहिए कि रिसर्च के चलते उनके साथ क्या-क्या दिक्कतें पेश आ सकती हैं।

बड़ी-बड़ी दवा कंपनियां ज़्यादातर विकासशील या देशों में अपने क्लीनिकल ट्रायल्स को अंजाम देती हैं। इन देशों में अक्सर गरीबी की मार झेल रहे लोगों को क्लीनिकल ट्रायल्स के लिए चुना जाता है, जिन्हें यह भी पता नहीं होता कि इन क्लीनिकल ट्रायल्स की वजह से उन्हें क्या-क्या तकलीफें झेलनी पड़ सकती है।

उपचार की नई तकनीकों या वैक्सीन सम्बंधी रिसर्च में निवेश किए गए करोड़ों डॉलर कहीं बेकार न चले जाएं, इसलिए इन कंपनियों में क्लीनिकल ट्रायल्स के साथ आगे बढ़ने की तीव्र ललक होती है। भारत में जहां-तहां पनपते क्लीनिकल शोध संस्थान जो अनेक मौकों पर ठेके पर क्लीनिकल ट्रायल की सुविधा उपलब्ध कराते हैं, इस बात का स्पष्ट संकेत हैं कि बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां वास्तव में भारत की विशाल आबादी को नए उत्पादों के परीक्षण के लिहाज़ से उर्वर संभावनाओं के रूप में देख रही हैं।

हाल ही में उठे अनेक विवादों ने क्लीनिकल ट्रायल्स के नियोजन व आयोजन के तौर-तरीकों पर चिंतनीय सवाल उठाए हैं। हो सकता है कि मीडिया में आ रही खबरें नैतिकता के उल्लंघन को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करती हों और कभी-कभार सनसनीखेज ढंग से पेश करती हों, मगर क्लीनिकल ट्रायल पर प्रकाशित अनेक टिप्पणियों में एक बेचैनी साफ नज़र आती है।

इन्सानों पर होने वाले किसी भी चिकित्सकीय शोध पर हमेशा नैतिकता सम्बंधी सवाल उठते रहे हैं। देखा जाए तो इस संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत ज़्यादातर दिशा-निर्देश प्रख्यात न्यूरेमबर्ग ट्रायल्स के बाद सामने आए हैं, जिसमें कैदियों पर मेडिकल रिसर्च के नाम पर सबसे निर्मम प्रयोगों को अंजाम देने वाले जर्मन डॉक्टरों को युद्ध अपराधियों की तरह दोषी ठहराया गया था। आज न्यूरेमबर्ग कोड (1947) इंसानों पर होने वाले प्रयोगों पर विचार करने के लिए एक शुरुआती आधार देता है।

इन्सान पर होने वाले परीक्षणों में नैतिकता से जुड़ी चर्चाओं में इतिहास के कुछ अध्याय उल्लेखनीय हैं। *नेचर* पत्रिका में हाल ही में *'हिपोक्रेटिक शपथ'* नामक एक संपादकीय प्रकाशित हुआ था, जिसके अंत में कहा गया कि 'इतिहास कुछ अनुसंधानों को अनैतिक मानता है, भले ही उन्हें उस समय मंज़ूर किया गया हो।'

वास्तव में ज़्यादातर इन्सानी मामलों में फैसले के लिए अतीत की घटनाओं में झांकना काफी कारगर हो सकता है। *नेचर* के संपादकीय में विलियम ओस्लर के नुस्खे का हवाला दिया गया था, जो एक सदी पहले आया था, 'मनुष्य की संपूर्ण सुरक्षा और पूर्ण स्वीकृति कुछ ऐसी शर्तें हैं, जिनके आधार पर ही ऐसे परीक्षणों की मंज़ूरी दी जा सकती है।' दरअसल *नेचर* का यह संपादकीय परीक्षणों के लिए इन्सान के इस्तेमाल पर केंद्रित एक न्यूज़ फीचर की वजह से लिखा गया था।

इन्सानों पर ये परीक्षण अमरीकी डॉक्टरों ने

ग्वाटेमाला में 1940 के दशक से शुरू किए थे। हालांकि ग्वाटेमाला में हुए प्रयोगों का खुलासा वर्ष 2010 में ही हो सका था। ग्वाटेमाला अध्ययन वर्ष 1946 में शुरू हुआ था, जब सिफलिस के प्रभावी उपचार के तौर पर पेनिसिलीन उपलब्ध हो चुकी थी। फिर भी इन प्रयोगों में शामिल अनभिज्ञ लोगों को जानबूझकर संक्रमित किया गया और उनके इलाज को रोककर रखा गया। *नेचर* पत्रिका में प्रकाशित इस आलेख में इन्सानों पर परीक्षणों के दौरान बरती गई असाधारण क्रूरता और इसके चलते उनके द्वारा भोगी गई दशकों लंबी वेदना का मार्मिक वर्णन है।

वर्ष 1943 में हुए एक आकलन के मुताबिक अमरीकी सेना में हर साल गनोरिया संक्रमण के तीन लाख 50 हज़ार नए मामले सामने आ रहे थे। वर्ष 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था और पेनिसिलीन भी उपलब्ध हो चुकी थी। इससे तो लगता है कि ग्वाटेमाला प्रयोगों के पीछे सोच ही गलत थी और इसे ऐसे शोधकर्ताओं और प्रशासकों द्वारा नियोजित व स्वीकृत किया गया था, जो यौन रोगों के शिकार हो चुके थे और जिनकी इनमें दिलचस्पी थी।

ग्वाटेमाला में किए गए अध्ययनों को स्थानीय जन स्वास्थ्य अधिकारियों और राजनीतिक नेतृत्व का समर्थन प्राप्त था। वास्तव में छह दशक बाद भी गरीब देशों में स्थानीय सरकारें अक्सर फार्मा कंपनियों और अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों की नाम मात्र की निगरानी के साथ क्लीनिकल ट्रायल्स की सुविधा देती हैं। ग्वाटेमाला प्रयोगों के बारे में एक अमरीकी बायोएथिक्स कमिशन ने साठ साल बाद इससे जुड़े कुछ भयावह आंकड़े पेश किए। इस घिनौने प्रकरण के प्रमुख शोधकर्ता जॉन कटलर ने अपना कॅरियर वर्ष 1942 में अमरीकी लोक सेवा द्वारा चलाए गए एक और विवादास्पद प्रोजेक्ट के ज़रिए शुरू किया था। यौन संचारित रोगों के खिलाफ रोकथाम तकनीकें विकसित करने की मिलेट्री की आकांक्षा से प्रेरित होकर कटलर ने इंडियाना के टेरे हॉटे स्थित एक कारागार के 'वॉलंटियर्स' का इस्तेमाल करते हुए एक प्रयोगात्मक कार्यक्रम में शिरकत की थी। इस अल्पकालिक अध्ययन में अनेक पद्धतियां विकसित हुई थीं, जिनका इस्तेमाल आगे चलकर कटलर ने ग्वाटेमाला में किया।

दिलचस्प बात यह है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन (डबल्यूएचओ) ने भी कटलर को एक टीम के मुखिया के रूप में भारत भेजा था। यह टीम लोगों को यह बताने आई थी कि यौन रोगों का किस तरह निदान व उपचार किया जाए। अपने ग्वाटेमाला प्रयोग के एक दशक बाद कटलर अलाबामा पहुंचा जो उस वक्त एक नस्लभेदी गढ़ था। यहां पर वह कुख्यात टस्केजी प्रयोगों में अग्रणी शोधकर्ता बनने के लिए पहुंचा था, जहां पर सिफलिस से ग्रसित सैकड़ों अश्वेत लोगों का दशकों तक बगैर उपचार किए अध्ययन किया गया। *नेचर* के न्यूज़ फीचर में कहा गया है कि उसका नाम लोक स्वास्थ्य सेवाओं में खूब चमका और आगे चलकर वह पिट्सबर्ग युनिवर्सिटी में इंटरनेशनल हेल्थ का प्रोफेसर बना।

ग्वाटेमाला प्रयोग से जुड़े कागज़ात वर्ष 2003 में उसकी मौत के कई सालों बाद अचानक सामने आए।

टस्केजी (जहां कटलर को 1960 के दशक में अपने प्रयोगों के लिए एक और लोकेशन मिली) अब इन्सान पर किए जा रहे परीक्षणों में अस्वीकार्य प्रोटोकॉल का पर्याय बन गया है। सेंटर्स फॉर डिसीज़ कंट्रोल एंड प्रिवेंशन (सीडीसी) की वेबसाइट 'नीग्रो पुरुषों में अनुपचारित सिफलिस का टस्केजी अध्ययन' का ब्यौरा पेश करती है। 1932 से शुरू हुए इस प्रयोग में 600 अश्वेत लोग शामिल थे। इनमें से 399 को सिफलिस था, जबकि बाकी 201 पुरुष इस बीमारी से मुक्त थे। जिन लोगों के साथ यह प्रयोग किया जा रहा था, वे नहीं जानते थे कि वे एक प्रयोग का हिस्सा हैं, जो सिफलिस के प्राकृतिक चक्र को रिकॉर्ड करने के लिए हो रहा है। इसका प्रत्यक्ष मकसद अनुपचारित मरीज़ों में बीमारी के फैलने का अध्ययन करना था। यह अध्ययन चालीस सालों तक चलता रहा। वर्ष 1972 में आई एक रिपोर्ट के चलते इस प्रयोग को बंद करना पड़ा था। हालांकि पेनिसिलीन उपलब्ध हो चुकी थी और 1950 के दशक की शुरुआत में इलाज के

लिए इसे प्राथमिकता दी जाती थी, फिर भी उन पुरुषों को यह उपचार नहीं दिया गया। टस्केजी प्रयोगों का एक विशद लेखा-जोखा 1978 में प्रकाशित हुआ था। इस प्रयोग के विवरणों के सार्वजनिक रूप से सामने आने के बाद हुई पड़तालों में ऐसे बुनियादी सवालों पर गौर नहीं किया गया कि कैसे अव्वल तो इस अध्ययन को मंज़ूरी क्यों दी गई और क्यों यह चालीस साल तक चला? ऐसा लगता है कि टस्केजी प्रयोगों की जड़ें उस दौर में प्रचलित उस मेडिकल धारणा में निहित थीं, जिसके तहत अश्वेत अमरीकियों को 'आदिमानव' की तरह समझा जाता था। यह बीसवीं सदी के शुरुआती दौर की बात है।

बीसवीं सदी आते-आते डार्विनवाद ने अमरीकी नस्लवाद को एक नया तर्काधार दे दिया था। सामाजिक डार्विनवादियों ने जनगणना के आंकड़ों का विश्लेषण करके बीसवीं सदी में नीग्रो प्रजाति के लोगों के विलुप्तीकरण का पूर्वानुमान व्यक्त किया था। टस्केजी सिफलिस अध्ययन के पीछे एक प्रमुख धारणा यह थी कि डॉक्टर मानते थे कि अश्वेत लोगों की सेहत की स्थिति के लिए सामाजिक-आर्थिक कारक ज़िम्मेदार नहीं हैं। उनका तर्क था कि बेहतर स्वास्थ्य सेवा जैव विकास के परिणामों को नहीं बदल सकती।

1960 के पूरे दशक में और यहां तक कि न्यूरेमबर्ग ट्रायल्स के बाद रिसर्च में नैतिकता सम्बंधी अनेक चर्चाओं के बावजूद आखिर टस्केजी अध्ययन इतने लंबे समय तक क्यों चलता रहा? इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यदि एक प्रेस रिपोर्ट ने ऐसे प्रोग्राम के प्रति लोगों का ध्यान न खींचा होता तो यह अध्ययन प्रयोग में शामिल किए गए लोगों पर ज़िंदगी भर चलता रहता।

निष्कर्ष तकलीफदेह है - पुनरावलोकन करने पर टस्केजी अध्ययन सिफलिस की पैथोलॉजी के बजाय नस्लवाद की पैथोलॉजी को ज़्यादा उभारता है। यह बीमारी की प्रक्रिया से ज़्यादा उससे सम्बंधित वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रकृति के बारे में है। इस अध्ययन से ऐसा लगता है कि इस धारणा को खारिज कर देना चाहिए कि विज्ञान मूल्यों से स्वतंत्र है। सबसे प्रासंगिक बात यह है कि ऐसे विशिष्ट तौर-तरीकों के निर्धारण में अधिक सतर्कता बरतने की ज़रूरत है, जिनमें सामाजिक मूल्य और रीतियां पेशेवर व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि ग्वाटेमाला व टस्केजी अध्ययन उस समय के मानदंडों के हिसाब से भी अनैतिक थे। ग्वाटेमाला अध्ययन में शामिल हुए लोगों को निर्मम तरीके से संक्रमित किया गया और कई बार बगैर इलाज के ही छोड़ दिया गया। जबकि दूसरे मामले (टस्केजी अध्ययन) में जाने-माने उपचारों को सिर्फ एक वैज्ञानिक मकसद के लिए जान-बूझकर रोका गया जो पूरी तरह से अस्वीकार्य नज़र आता है, यहां तक कि उस वक्त भी जब इस अध्ययन की कल्पना की गई थी। इंसानी अहंकार दोनों मामलों में प्रबल था। अंततः दोनों मामलों में राष्ट्रपति की ओर से खेद व्यक्त किया गया। क्लिंटन ने 1997 में टस्केजी के लिए और ओबामा ने 2010 में ग्वाटेमाला के लिए खेद प्रकट किया। आज के संदर्भ में नैतिकता की सीमाएं तोड़ने के आग्रह को व्यावसायिक हितों से काफी बल मिल सकता है। ऐसे में इतिहास से सबक लेना ही बुद्धिमानी होगी। ***(स्रोत फीचर्स)***